श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

# श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

## श्रीमद्भगवद्गीता नवमो अध्याय

**पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,**
**मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।**

**नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।**

**देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्**

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

**नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।**

**प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्**

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

**श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)**

**नवमोऽध्यायः**

**श्रीभगवानुवाच**

**इदं(न्) तु ते गुह्यतमं(म्), प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।**

**ज्ञानं(वँ) विज्ञानसहितं(यँ), यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ 1 ॥**

श्री भगवान् बोले- तुझ दोषदृष्टिरहित भक्त के लिए इस परम गोपनीय विज्ञान सहित ज्ञान को पुनः भली भाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसार से मुक्त हो जाएगा ।

**राजविद्या राजगुह्यं(म्), पवित्रमिदमुत्तमम्।**

**प्रत्यक्षावगमं(न्) धर्म्यं(म्), सुसुखं(ङ्) कर्तुमव्ययम्॥ 2 ॥**

यह विज्ञान सहित ज्ञान सब विद्याओं का राजा, सब गोपनीयों का राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करने में बड़ा सुगम और अविनाशी है ।

अश्रद्दधानाः(फ्) पुरुषा, धर्मस्यास्य परन्तप ।

अप्राप्य मां(न्) निवर्तन्ते, मृत्युसं(म्)सारवर्त्मनि ॥ 3 ॥

हे परंतप! इस उपर्युक्त धर्म में श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं ।

मया ततमिदं(म्) सर्वं(ञ्), जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं(न्) तेष्ववस्थितः ॥ 4 ॥

मुझ निराकार परमात्मा से यह सब जगत् जल से बर्फ के सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अंतर्गत संकल्प के आधार स्थित हैं, किंतु वास्तव में मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ।

न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृन्न च भूतस्थो, ममात्मा भूतभावनः ॥ 5 ॥

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं, किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख कि भूतों का धारण-पोषण करने वाला और भूतों को उत्पन्न करने वाला भी मेरा आत्मा वास्तव में भूतों में स्थित नहीं है ।

यथाकाशस्थितो नित्यं(वँ), वायुः(स्) सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि, मत्स्थानीत्युपधारय ॥ 6 ॥

जैसे आकाश से उत्पन्न सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु सदा आकाश में ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्प द्वारा उत्पन्न होने से संपूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान ।

सर्वभूतानि कौन्तेय, प्रकृतिं(यँ) यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि, कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ 7 ॥

हे अर्जुन! कल्पों के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृति में लीन होते हैं और कल्पों के आदि में उनको मैं फिर रचता हूँ ।

प्रकृतिं(म्) स्वामवष्टभ्य, विसृजामि पुनः(फ्) पुनः ।

भूतग्राममिमं(ङ्) कृत्स्न-मवशं(म्) प्रकृतेर्वशात् ॥ 8 ॥

अपनी प्रकृति को अंगीकार करके स्वभाव के बल से परतंत्र हुए इस संपूर्ण भूतसमुदाय को बार-बार उनके कर्मों के अनुसार रचता हूँ ।

न च मां(न्) तानि कर्माणि, निबध्नन्ति धनञ्जय।

उदासीनवदासीन-मसक्तं(न्) तेषु कर्मसु ॥ 9 ॥

हे अर्जुन! उन कर्मों में आसक्तिरहित और उदासीन के सदृश स्थित मुझ परमात्मा को वे कर्म नहीं बाँधते ।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः(स्), सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय, जगद्विपरिवर्तते ॥ 10 ॥

हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाता के सकाश से प्रकृति चराचर सहित सर्वजगत् को रचती है और इस हेतु से ही यह संसारचक्र घूम रहा है ।

अवजानन्ति मां(म्) मूढा, मानुषीं(न्) तनुमाश्रितम्।

परं(म्) भावमजानन्तो, मम भूतमहेश्वरम्॥ 11 ॥

मेरे परमभाव को न जानने वाले मूढ़ लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ संपूर्ण भूतों के महान् ईश्वर को तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमाया से संसार के उद्धार के लिए मनुष्य रूप में विचरते हुए मुझ परमेश्वर को साधारण मनुष्य मानते हैं ।

मोघाशा मोघकर्माणो, मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं(ञ्) चैव, प्रकृतिं(म्) मोहिनीं(म्) श्रिताः ॥ 12 ॥

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञान वाले विक्षिप्तचित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति को ही धारण किए रहते हैं ।

महात्मानस्तु मां(म्) पार्थ, दैवीं(म्) प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो, ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ 13 ॥

परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृति के आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतों का सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मन से युक्त होकर निरंतर भजते हैं ।

सततं(ङ्) कीर्तयन्तो मां(यँ), यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां(म्) भक्त्या, नित्ययुक्ता उपासते ॥ 14 ॥

वे दृढ़ निश्चय वाले भक्तजन निरंतर मेरे नाम और गुणों का कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यान में युक्त होकर अनन्य प्रेम से मेरी उपासना करते हैं ।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये, यजन्तो मामुपासते।

एकत्वेन पृथक्त्वेन, बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ 15 ॥

दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ज्ञानयज्ञ द्वारा अभिन्नभाव से पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकार से स्थित मुझ विराट स्वरूप परमेश्वर की पृथक भाव से उपासना करते हैं ।

अहं(ङ्) क्रतुरहं(यँ) यज्ञः(स्), स्वधाहमहमौषधम् ।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्य-महमग्निरहं(म्) हुतम् ॥ 16 ॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषधि मैं हूँ, मंत्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ ।

पिताहमस्य जगतो, माता धाता पितामहः ।

वेद्यं(म्) पवित्रमोङ्कार, ऋक्साम यजुरेव च ॥ 17 ॥

इस संपूर्ण जगत् का धाता अर्थात् धारण करने वाला एवं कर्मों के फल को देने वाला, पिता, माता, पितामह, जानने योग्य, पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ ।

गतिर्भर्ता प्रभुः(स्) साक्षी, निवासः(श्) शरणं(म्) सुहृत् ।

प्रभवः(फ्) प्रलयः(स्) स्थानं(न्), निधानं(म्) बीजमव्ययम् ॥ 18 ॥

प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण करने वाला, सबका स्वामी, शुभाशुभ का देखने वाला, सबका वासस्थान, शरण लेने योग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करने वाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलय का हेतु, स्थिति का आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ ।

तपाम्यहमहं(वँ) वर्षं(न्), निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।

अमृतं(ञ्) चैव मृत्युश्च, सदसच्चाहमर्जुन ॥ 19 ॥

मैं ही सूर्यरूप से तपता हूँ, वर्षा का आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। हे अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ।

त्रैविद्या मां(म्) सोमपाः(फ्) पूतपापा-

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं(म्) प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-

मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ 20 ॥

तीनों वेदों में विधान किए हुए सकाम कर्मों को करने वाले, सोम रस को पीने वाले, पापरहित पुरुष मुझको यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्यों के फलरूप स्वर्गलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं ।

ते तं(म्) भुक्त्वा स्वर्गलोकं(वँ) विशालं(ङ्)

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं(वँ) विशन्ति।

एवं(न्) त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना

गतागतं(ङ्) कामकामा लभन्ते ॥ 21 ॥

वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधनरूप तीनों वेदों में कहे हुए सकामकर्म का आश्रय लेने वाले और भोगों की कामना वाले पुरुष बार-बार आवागमन को प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में आते हैं ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां(यँ), ये जनाः(फ्) पर्युपासते ।

तेषां(न्) नित्याभियुक्तानां(यँ), योगक्षेमं(वँ) वहाम्यहम् ॥ 22 ॥

जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वर को निरंतर चिंतन करते हुए निष्कामभाव से भजते हैं, उन नित्य-निरंतर मेरा चिंतन करने वाले पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता, यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय, यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ 23 ॥

हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धा से युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं, किंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है ।

अहं(म्) हि सर्वयज्ञानां(म्), भोक्ता चं प्रभुरेव च ।

न तु मामभिजानन्ति, तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ 24 ॥

क्योंकि संपूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ, परंतु वे मुझ परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानते, इसी से गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं ।

यान्ति देवव्रता देवान्-पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या, यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ 25 ॥

देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करने वाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं। इसीलिए मेरे भक्तों का पुनर्जन्म नहीं होता ।

पत्रं(म्) पुष्पं(म्) फलं(न्) तोयं(यँ), यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं(म्) भक्त्युपहृत-मश्नामि प्रयतात्मनः ॥ 26 ॥

जो कोई भक्त मेरे लिए प्रेम से पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूप से प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।

यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ 27 ॥

हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर ।

शुभाशुभफलैरेवं(म्), मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।

सन्न्यासयोगयुक्तात्मा, विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ 28 ॥

इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान् के अर्पण होते हैं- ऐसे संन्यासयोग से युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबंधन से मुक्त हो जाएगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।

समोऽहं(म्) सर्वभूतेषु, न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां(म्) भक्त्या, मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ 29 ॥

मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परंतु जो भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।

अपि चेत्सुदुराचारो, भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः(स्), सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ 30 ॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है। अर्थात् उसने भली भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है ।

क्षिप्रं(म्) भवति धर्मात्मा, शश्वच्छान्तिं(न्) निगच्छति ।

कौन्तेय प्रतिजानीहि, न मे भक्तः(फ्) प्रणश्यति ॥ 31 ॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।

मां(म्) हि पार्थ व्यपाश्रित्य, येऽपि स्युः(फ्) पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्- तेऽपि यान्ति परां(ङ्) गतिम् ॥ 32 ॥

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगति को ही प्राप्त होते हैं ।

किं(म्) पुनर्ब्राह्मणाः(फ्) पुण्या, भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं(लँ) लोक- मिमं(म्) प्राप्य भजस्व माम् ॥ 33 ॥

फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण था राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गति को प्राप्त होते हैं। इसलिए तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर निरंतर मेरा ही भजन कर ।

मन्मना भव मद्भक्तो, मद्याजी मां(न्) नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैव-मात्मानं(म्) मत्परायणः ॥ 34 ॥

मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करने वाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्मा को मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसं(वँ)वादे
राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः ॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।